# हिम-विद्ध

जगदीश गुप्त



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्र थमाला ग्र याक – १६६
सम्पा क एव नियामक
लक्ष्मीच द्र जैन

HIM VIDDH
(P m)
D JAGDISH GUPTA

Bharatiya Jnanpith
Publication
F t Edition 1964
Pric Rs 3 00

©

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस कलकत्ता २७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी ५
विक्रय केन्द्र
३६२ । १ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली ६
प्रथम संस्करण १९ ४
मूल्य तीन रुपये

सन्मति मुद्रणालय वाराणसी–५

कालिदास को
निकोलस रोरिक को
अनागारिक गोविन्द को
और—
हर उस व्यक्ति को
जिसकी आत्मा ने
हिम विद्ध होकर
एक जीवनव्यापी
पवित्र उन्मेष का अनुभव किया हो

# पूर्व कथन



अपन अन्तमनम हा नही बाहरक वातावरणम भी एक रचनाकारके नात मझ बहुत समयस एक विचित्र प्रकारकी रिक्तताका अनुभव हाता रहा ह जो अब भी सवथा नि शप नहीं हुआ ह। जहाँतक मर अभ्यन्तरकी बात ह हिम दशक सम्पकन रिक्तताक इस कठोर तिक्त अनुभवको बहुत दूर तक भावकी कामल स्निग्ध समृद्धिस भर दिया ह। प्रस्तुत सकलनकी कवि ताए उसीका सवहन करती हैं। बाहरक वातावरणकी बात कठिन ह। भाव जीवनक अन्तरग सत्यकी गरिमा ह वह व्यक्तिक अस्तित्वका विशिष्ट रूप हा नही स्वय अस्तित्व ह। बाह्य जगतक सम्पकस प्राप्त सम्यक प्ररणा द्वारा जब उसकी अभिव्यक्ति हाती ह ता एसा लगता ह कि जस अपन हा भीतर निहित किसी नय सत्यस साक्षात्कार हो रहा हा भल ही वह सत्य मानव परात्परसे पूव परिचित भी क्या न हा। विपाक्त सामाजिक वातावरणमें निरन्तर सघषरत रहत हुए आत्मा छाट-छाट स्वार्थोंसे ऊपर उठकर अपन आतरिक भाव सत्यकी प्रतिष्ठा कहाँ कर यह समस्या आजकी जावित समस्या ह और मर आग हा नहीं प्रत्यक जागरूक व्यक्तिक आगे उपस्थित हाती ह। अप्रतिष्ठित भाव घमनर अभिशापम ग्रस्त एक भारी बाझकी तरह जीवनको और अधिक दुवह बना दता ह। अतीत म मनुष्यन अपन भीतरी भाव-सत्यको ईश्वर धम और दवी दवता आदिक नामपर कहीं कहीं सस्थापित भी किया परन्तु आधुनिक चतना प्रत्यक्ष अनुभूत हानवाल वस्तु जगत अर्थात मानव और प्रकृतिक अतिरिक्त किसी अय अलग-अलगमें

भावनाको सम्पादित करनका प्ररणा न ो दतो। मानव और प्रकृतिके विषयम भी वगानिकताके आग्रह युक्त बनमान युगम जो धारणा सामत प्रतीत होती ह वह मध्यकालीन परलोकोमुखी धारणास भिन्न और स्पष्ट लोकोमुखी ह। छायावादी रहस्य वाद भी अब उसम दाप न ा बचा ह। परात नीच पदार्थकी कठोरता प्रतिक्षण अनुभूत होती रहती ह। मझ लगता ह कि आजका मनुष्य ईश्वर और धमस निबद्ध रूपस किनारा करक भी अपनी सार्थकता मानव मूल्यापर अपनी दढ आस्था रखकर तथा प्रकृतिस अपन आन्तिम सम्पक सूत्राका सजीव बनाकर ही विश्रान्ति प्राप्त कर सकता ह। ह यही उन्मुक्तता और अनुभव की सहजताके आधारपर वह एसी भावमयता अजित कर सकता ह जो यान्त्रिक जीवनको बधमान नियमतााओ यथार्थकी विकृतियो और छाट छाट स्वार्थोंकी पति लिप्सास आक्रान्त मानव मूल्याकी भग्नताक बीच उस नितान्त रिक्त होनम बचा सकती ह। इसम युगको वास्तविकतास पलायनकी गन्ध भी नहीं ह वरन एक प्रकारस उसाको सर्वांगीण स्वीकृति ह। प्रकृतिस कटकर महानगरोंका जीवन भयानक उमस निर्जीव यान्त्रिकता और भावहीन यान्त्रिकतास कितना बोझिल हो जाता ह लोग इसका भी बहुधा अनुभव नहो कर पात। उस बोझसे दब हुए व प्रकृतिस अपना सहज सम्ब ध स्थापित करनम अस मथ हो जात ह। उनक लिए प्रकृतिका खुला द्वार घटिया स्तर की विलास-वृत्तिका हो इधरसे उधर ले जानका साधन बन जाता ह।

सम्पूण जीवन केवल न्याय और विडम्बना ही नही ह और न दु ख और अभाव हो उसकी समग्रताका व्यक्त करत ह। नसर्गिक सौन्दयक बहुविध आकषणास उत्पन्न होनवाली आत्मीयतापरक विमुग्धता मत्यकी उपलब्धिक अनुभवस प्राप्त होन वाला अक्लप परितोष तथा मनष्य मनुष्यक बीच मानवीयतासे सिक्त सम्बधोका प्रतिफलन बनकर आनवाली आस्था भी जीवनका ही अग ह। म तो यहाँतक कहूँगा कि आस्था परितोष और विमुग्धताका यह पक्ष नष्ट हो जाय तो जीवनका गहरा अर्थ ही समाप्त हो जाता ह। हमारी गति केवल सतह

तक सामित रहे, गहराईमें उसका कोई वास्ता न हो ऐसा किसी का भा अभीष्ट न होगा। भावक प्रश्नको यह बात रोमाण्टिक या नियारामाण्टिक ढगका न ी ह क्योंकि यथार्थक परिवेशमें विलग होकर भावका प्रतिष्ठाकी माँग यहाँ नहीं का जा र्‍ा ‍ ‍। मर निकट भाव को स्वाकार करना यथार्थको मानवीय रूपमें स्वीकार करना ह ।

कला और कविता सभा अगद्य व धनाको तोडती हुई आज जिस जगह आ गयी ह वहाँ उस स्वच्छन्दतार साथ गतिशील होन और अपन लिए विवेकपूर्वक स्वय दिशाबोध प्राप्त करन का पूरा अधिकार मिल गया ह अब या ह प्राणवत्तिक सजाव स्पन्दनाकी जो बिना भावकी प्रतिष्ठाके सम्भव नहीं ह । अपेक्षित भाव-तत्त्वसे रहित कृति रान घरकी तरह अशुभ प्रतीत होन लगती ह । उसम आत्मीयता और सह अनुभूति उत्पन्न करनकी क्षमता भी घोर धार समाप्त होता जाती ह । केवल अभिव्यक्ति की रिक्तियों और रूपगत वचिन्यपर वन दनग भावकी कमीको पूरा नहीं किया जा सकता। नविनका सन्धान करत हुए नवगामविक कविता और कला भी, कुछ एम उपकरणा की आर उन्मुख होती गयी ह जो स्वय भाव न होकर उसक धारक या व्यजक हैं। परिणामत ना प्रभाव उसम मिलता ह वह बहुधा विचार चिन्तन अथवा अभिव्यक्ति कौशलकी दन ह । अनुभूति उतनी समृद्ध न ी हा सका ह जितनी किसी प्रौढ़ युगकी रचनाओंम अपक्षित होता ह । भीतर और बाहरका पूरी सगति हुए बिना भावना नविनर साथ प्रवाहित न ी हाती। तरह तरहकी यजनाए उसका अभिव्यक्तिक आड आती रहना ह । इन कविताओंक माध्यमसे मन लगता ह कि जस मर अन्तर्निहित भाव सत्यन अपना अभिव्यक्तिक लिए स्वानुरूप माग खोजनकी चष्टा की ह । कविता और कलाका क्षत्र एसा ह जहाँ प्रत्यक व्यक्तिको यदि वह सक्रिय ह ता अपन अनुरूप स्वातन्त्र अभिव्यजना-पथ आविष्कृत करना ही हाता ह ।

आज अपन नवक विकास-क्रमको जब म पाछ मुडकर देखता हूँ तो लगता ह कि मरे अन्दर जा भाव-सामर्थ्य रही ह

उसको पहली बार गीत शृंखलाके लिखा और सम्बद्ध गतियां तथा दूसरी बार चम्पामत्तिकी परिशिष्ट निमित्त स्वप्न लिखा तथा समानान्तर रची गया कविताओंका रूप प्राप्त हुआ। इन गेना आवगमय विस्तत भाव स्थितियाम गर मूत छायाका माहचय रहनके कारण मझ प्राय एगा लगा ह जैसे इनम म ही नही हू किसा अयका अस्तित्व भा ह और म उसक माय हू। यह अनुभूति अपनम महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अब मझ इस तीसरा भाव स्थिति समझ कच्ची और बीती हुई प्रतीत होता ह। हिम स्थितिका सारी भाव श्रेणियाँ बीच मझ लगता रहा ह कि अब अपन मात्र केवल म हा हू। वह छाया मझ पत्थरकी तरह कठोर बनाती हुई प्रकृतिक सौन्दर्य सम्पकमें छोड कर स्वय तिराहित हो गया ह। जो कोमलता इन कविताओंमें आयी ह वह पाषाणाक आग पको रूकी कामलता ह। बाह्य सौन्दर्य और मर अन्तरग-द्वारा उसके प्रत्यभीकरण एव आस्वादनक बीच कोई छायाभास अब कदाचित शेष नहीं रह गया ह। केवल मर मनमें उसक प्रति अपार कृतज्ञता बची ह क्योंकि उसाक द्वारा मुझ अपन अस्तित्वका प्राथमिक बोध हुआ। म इस तथ्यमे इनकार नहीं करूंगा कि इन ताना भाव स्थितियाम कहीं कुछ समानता रही ह जस एकाकीपन तरलता तन्मयता और परिताप सुखकी दिशामें परन्तु यह भी स्पष्ट कर देना चाहूंगा कि यह तीसरा भाव प्रवाह मर निकट एक एसा आत्मोपलब्धि का द्योतक ह जिसका स्तर पूववर्ती प्रवा स्तराम पर्याप्त भिन्न हो चुका ह। इसमें द्रष्टा और सष्टाके बीच काफी निकटता स्थापित हो गया ह। पर सृष्टि कविता मात्रा ह। ऊंचाइयों का स्पर्श करनकी भावना रखना तथा प्रत्यक क्षत्रम उनके सौन्दर्यका निहारकर परितोषका अनुभव करना मनष्य मात्रका स्वभाव ह और भावनाक इस धरातलपर म अपनको किसीसे पृथक नहीं रखना चाहता।

इसीलिए समस्त भारतीय चतनाका महान देवालय रहा। जो सत्य प्रतिमित देवालयोंमें प्राप्त नहीं होता वह हिमालयमें अजस्र उपलब्ध होता ह। उसकी अपार सुन्दरताके

आगे विनत होनेमें मेरी आत्माने गौरवका अनुभव किया है। उसके शिखरोंकी अगणित शृंखलाओंमें आबद्ध होकर मेरी बहुत-सा मानसिक साभार टूटा है। भारतीय दृष्टि तत्त्वतः मांगलिकता और पवित्रताको केन्द्रमें रखकर जीवनके स्वरूप का आकलन करती है। पाषाणमय हिमालय भी उसके निकट कल्याणमय शिव हो गया है। जड़में भी चैतन्यशक्तिका सौन्दर्य उसे लक्षित होता है। पाश्चात्य वैज्ञानिक-दृष्टि आज जड़के आधारपर चेतनकी समस्या सुलझाना चाहती है विश्लेषणके प्रति उसका विश्वास सराहनीय है परन्तु भारतीय चिन्तनमें एक व्यापक धरातलमें चैतन्यको मूल मानकर जड़को व्याख्यायित करनेका यत्न किया गया है। अन्तिम सत्य तो राम ही जाने पर मुझे जीवनकी भारतीय धारणा अधिक मानवीय और प्रेरक प्रतीत होती है। उसमें जीवनको जड़ वस्तुओंकी तरह विभाज्य मानकर नये पुरानेके बीच आत्यन्तिक व्यवधान और विरोध सिद्ध करनेकी अनिवार्यता सामने नहीं आती। मनुष्यका विकास-क्रम विच्छिन्न नहीं होता। अखण्ड इकाईकी तरह उसकी प्रतिष्ठा बनी रहती है। जीवनका वास्तविक सम्मान उसकी अखण्डताको स्वीकार करके ही किया जा सकता है। निराशा कुण्ठा विकृति भय और पराभवके ऊपर खण्डित जीवन-दर्शनके सहारे विजय प्राप्त नहीं की जा सकती। मैं सदा ही इस बातके प्रति सजग रहनेकी कि मेरी किसी भी कृतिसे जीवनका असम्मान न होने पाये। मानवके स्वाभिमान और स्वातन्त्र्यकी धारणाओंको मैं जीवनके प्रति इस व्यापक सम्मान भावका अंग मानता हूँ।

पर्वत प्रदेशके मेरे सारे अनुभव इन कविताओंमें आ गये हों ऐसी बात नहीं है। हिमदेशके निवासियोंके आर्थिक तथा अभावमय अविकसित एवं विपन्न जीवनकी ओर इन कविताओं में कोई दृष्टिपात नहीं किया गया है उसकी अभिव्यक्ति मेरे गद्यात्मक रचनाओंमें हुई है। यह आवश्यक नहीं है कि सारी की सारी अनुभूतियाँ किसी एक ही माध्यमसे व्यक्त ही हो जायँ। [illegible] रखकर [illegible]

बरसाती पिघले हुए लाहकी तरह आँखोंको चौंधिया भरती दावाग्नि पर्वतकी नीचसे ऊपर तक अपन पाशम बाँध देनकी गर्वित रचनवाली प्रचण्ड ज्वाल मालाए और उनक बीच रह रहकर उछलता हुआ वह मृग शावक विवशताक साथ उसे देखती हुई मरी शकाकुल निरीह आँखें और आसन्न मृत्युको पराहत करत हुए अन्तिम साहसक साथ एक ही छलाँगमें उसका परीकी परी दरार फाद जाना मर हर्षातिरेकम कुछ सजगता आ जाना और फिर कभी न भूलनवाली एक स्मृतिके रूपमें बिना किसी कविताका जन्म दिए सार अनभवका मनके एकान्तम स्थिर हो जाना एक एसा ही उदाहरण ह। एसे न जान कितन प्रसग ह जो सवदनामे परी तरह सम्पक्त होकर भी काव्य रूप ग्रहण नही कर सके। इसी तरह बहुत-सी कविताए एसी ह जिन्हें किसी अनुभवक सात रूपमे सीध नही जोडा जा सकता इस सकलनम उपरयका आहत करुण स्वर शीषक कविताकी तरह शायद ही कोई दूसरी कविता हो जो प्रत्यक्ष अनुभवसे इतन निविड रूपसे सम्बद्ध हो सकी हो। प्रकृति रमणीक ह कविता मर उस भाव बोधको शब्द बद्ध करती ह जो प्रस्तुत सकलनकी प्राय सभी कविताओके मूलमें सूक्ष्म रूपस परिव्याप्त रहा ह। स्मि विद्ध कविता इस दौरकी कविताओमें सबस पहली ह और उसीस सकलनक नामकी उद्भावना हुई ह।

किसी परम्परागत काव्य रूपके सवदनम वडा सत्य यह ह कि कविक स्वभाव और कथ्यकी प्रकृतिके अनुसार कविताका रूप स्वय उद्भूत होता ह। रचनाकार अपनी ओरसे उसे उद्भत होत हुए दखनकी तटस्थता एव विशष हस्तक्षप न करन की सयमशीलता अर्जित कर ले तो यह काव्यके लिए चहित रचना क्रमस कही अधिक उपकारक होता ह। कविता छन्द मक्त ही हो मरी दृष्टिम यह आग्रह वसा ही कठोर ह जसा छन्द-बद्धताको कविताके लिए अनिवाय मानना। कविकी स्वतन्त्रता दोनोंसे बाधित होती ह। इन दोनों सीमाओंसे ऊपर उठकर एक एसा दृष्टिकोण भी अपनाया जा सकता ह कि प्रत्यक कविताका रूप उसकी मूल अनुभूतिक भीतर निहित

रहता है और रचना प्रक्रियामें स्वतः नियमित हो जाता है। कविके लिए अपेक्षित यह है कि वह उस निहित रूपको अपने पूर्वाग्रहोंसे आच्छादित न होने दे और अपने असंयत हस्तक्षेपसे विकृत न बनाये। जहाँतक सम्भव हो सजगतापूर्वक उसको रक्षित करनेका प्रयत्न करे। यदि कोई कविता छन्द-बद्ध होकर ही उद्भूत होती है तो बलात् उसे मुक्त छन्द या छन्द मुक्त रूपमें ढालनेकी बात मुझे अस्वाभाविक प्रतीत होती है। इसका विलोम भी उतना ही सच है। मैंने यत्न किया है कि कविताओंके निहित रूपकी यथासम्भव रक्षा कर सकूँ। कई बार पूर्वाग्रह प्रबल हुए पर मैं उन्हें प्राय: संयमित कर सका। कहीं-कहीं अपनेको नहीं भी रोक पाया हूँ पर उसका मुझे खेद नहीं है। इन कविताओंके रचते समय कभी कभी लगा है कि जैसे मन किसी ऊँचे कगारसे घाटीकी अगाध गहराईमें धीरेसे झाँक लिया हो या जैसे वह शिखर एक साथ नीचे गया हो और मैं निश्चय न कर सकूँ कि पहले किसे देखना है। अधिकतर यही प्रतीत हुआ है कि जलकी गति-स्वर सुनते हुए चीड़ और देवदारुओंके बीच वन पथपर सहज गतिसे चलता जा रहा हूँ तथा पवन पवनकी तरह भाव सबके मेरा साथ दे रहे हों। जहाँ थकनका अनुभव हुआ थोड़ा ठहर रुक लिया।

सारी कविताएँ पिछले चार-पाँच वर्षोंके अन्तरालमें समय-समयपर लिखी जाती रही हैं। ... ... के प्रकाशनके समयसे ही उनका सृजन आरम्भ हो गया था। ऐसा न होता तो वह धवल हिमालयपर सहयात्री मार्गोंकी ... वर्षाकुल सान्ध्य सुन्दर कागज जल अभिषिक्त शिखर और पिण्डर-ग्लेशियर प्रथम हिम-स्नानकी स्मृतिके साथ स्वर्गीय न किया गया होता। मैंने ... आलयकी ओर उन्मुख होनेके लिए घाना आक्रमणकी प्रतीक्षा नहीं की और न उसके प्रति अपनी प्रतिक्रियाको असंयत ही होने दिया है क्योंकि वैसा मेरा संस्कार ही नहीं है। मैं चाहूँ भी तो वैसा मुझसे सम्भव नहीं है। नये सन्दर्भ मेरे स्पष्ट न किया हो ऐसी भी बात नहीं है। अनेकों चार कविताएँ संग्रहमें हैं ... पर मेरी सुनिश्चित निजी भावनाएँ

• [illegible]


| | | |
|---|---|---|
| १६ | बादल का साथ | ४३ |
| १७ | हिम शिखरों पर बादल | ४४ |
| १८ | स्याह बादल जगमगाती धूप | ४५ |
| १९ | धूप की चादर | ४६ |
| २० | बादल एक शब्द चित्र | ४७ |
| २१ | बादल भँवर | ४८ |
| २२ | स्वाति की मछलियाँ | ४९ |
| २३ | बादल देवदार शाखों पर | ५० |
| २४ | बादलों के वलय | ५१ |


• ढाकुरी के मोर


| | | |
|---|---|---|
| २५ | बात रात से | ५५ |
| २६ | पंख क्वार | ५६ |
| २७ | शिखर-स्पर्श | ५७ |
| २८ | शिखर हथेलियों पर | ५८ |
| २९ | छवि भरा हुआ | ५९ |
| ३० | ढाकुरी के मोर | ६० |


• वन-स्पन्दन


| | | |
|---|---|---|
| ३१ | उपत्यका आहत करुण स्वर | ६३ |
| ३२ | स्पर्श दर्शी तार | ६४ |
| ३३ | सहमशीला नदी | ६५ |
| ३४ | नदी का आवेग | ६६ |
| ३५ | पाँगर गन्ध बिखेरता | ६७ |
| ३६ | उस हिमानी देश में भी | ६८ |
| ३७ | टेर पर्वत पन्थ की | ६९ |
| ३८ | घाटी की चिन्ता | ७१ |
| ३९ | घन दारुका वन | ७२ |
| ४० | चारों ओर सूचा-गुच्छ | ७३ |
| ४१ | स्तम्भ कथा | ७४ |
| ४२ | वन स्पन्दन | ७५ |

स्मरण जल

४३ हिम निखर मन में
४४ टेरत हैं शिखर ७९
४५ कल्पना का अन्तराल ८०
४६ शिखरों म दूर हूँ ८१
४७ उम्र का माथा ८३
४८ भूल क्यों घरे बगाहा ८४
४९ व्यथ न द जाल ८५
५० निखर मर ८६
५१ स्मरण जल ..

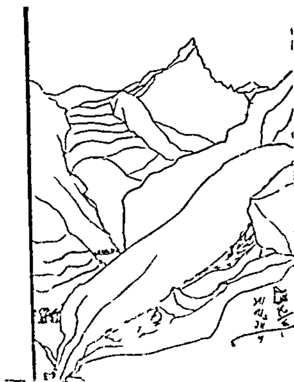
● मैं वह क्यों नही हुआ ८९

५२ वज्र संकल्प
५३ स्वाभिमान ९३
५४ कौन भूमि होगी जहाँ ९४
५५ मैं वह क्या नहीं हुआ ९५
९६





# आँख भर देखा कहाँ



## राशीभूत अट्टहास

देखा हिमवान् को

शब्दहीन अट्टहास राशीभूत
कानों ने नहीं—
मुग्ध आँखों ने सुना।

## जिस झरोखे से निहारा

जिस झरोखे से निहारा
खुले द्वार पट-जैसा
वही उज्ज्वल
वही पावन
रूप
वही उठती उर्मियों-सी शैलमालाए
वही अंतश्चेतना सा गहन वन विस्तार
वही उर्वर कल्पना-से फूटते जलस्रोत
वही दृढ़ मांसल भुजाओं से कसे पाषाण
वही चंचल वासना सी बिछलती नदियां
पारदर्शी वही शीशे की तरह आकाश
और किरनों से झलामल
वही मुझको बेधते हिमकोण

जिस झरोखे से निहारा
वही उज्ज्वल
वही पावन
वही निर्मल
रूप

## दृश्य शिशु

दूध के अधउग दांत सी
कोर हिम शृंग की
फूटी फिर
उस स्लेटी बादल की ओट से

चलता हूँ
अरे ! तनिक ठहरो भी,
पहले मैं इस शिशु का
पूरा मुख तो निहार लूँ !

## हिम श्री को देखा

दृष्टि के किनारा तक
फैली आकारहीन
हिम श्री को देखा —
लगा
पुतली ने मुक्त हो
मुड कर ज्या
आख की धवलता को
पहली बार पहचाना
और ?
और अपनी मलिनता पर
लज्जित हो ठिठक गयी ।

## नमन की चार पंक्तियाँ

नमन मेरा हिम-जलद अभिषिक्त शृंगों को।
नमन मेरा शांत सन्ध्यातीत रंगों को।
इन्द्रधनु के गुच्छ जिन पर तैरते रहते,
नमन मेरा अलकनन्दा की तरंगों को।

वन्धन, मुक्त मन के ।।।

हिम शिखर निझर नदी पथ चीड-वन
मुक्त मन के लिए बन्धन हो गये।
दृश्य से छन कर समाये आँख म,
आँख से मन म वसे, मन हो गये।

■ ε

## कहा मन ने आँख से

कहा मन ने आँख से —
तुम रमो उज्ज्वल शैल शृंगों में,
मैं रहूँगा लीन तन तक और अंगों में।

गया जिस जिस अंग तक मन
विहग शिशु-सा खोलकर निज पाँख,
चकित हो पाया वहाँ —
वह तो कभी का बन चुका है आँख।



## आँख भर देखा कहाँ

आख भर दखा कहा आख भर आयी।

अटकी ही रही दीठ
वह हिमगिरिमाल ढीठ
मेरे ही आसू के झीने पट ओट छिपी,
देखता रहा बेबस दी नही दिखायी।
आख भर देखा कहा आख भर आयी।

पक्तिबद्ध देवदारु
रोमिल, श्लथ, दीघ चारु,
चन्दन पर श्यामल कस्तूरी की गन्ध-सी
जल्दा की छाया हिम शृगा पर छायी।
आख भर देखा कहा, आख भर आयी।

शिखरा के पार शिखर
विध कर दग गय बिखर,
घाटी के पछी-सी गहरे मन म उतरी
वन्रा बैन्नारमयी मरकत गहरायी।
आंख भर दखा कहा आख भर आयी।



# पुन सृष्टि



'प्रकृति रमणीक है'
जिसने इतना ही कहा –
उसने मधुर सौंदय के घनीभूत भार को
आत्मा के कंधों पर
पूरा नहीं सहा ।

भीतर तक
क्षण भर भी छुआ यदि होता
सौन्दय की शिखाओं ने
जल जाता शब्द शब्द
रहता बस अथाकुल मौन शेष
ऐसा मौन – जिसकी शिराओं में
सारा आवेग सिंधु
पारे-सा
इधर उधर फिरता वहा-वहा ।

प्रकृति ममतालु है,
दूध भरी वत्सलता से भीगी –
छाया का आँचल पसारती
– माता है ।
स्निग्ध रश्मि रागों के बंधन से बाँधना,
– निमम सहारा है ।

बाँहा की वल्लरि री तन-तरु का
रोम रोम कसती-सी
औरा की आँखा से बचा-बचा
दे जाती चुम्बन के अनगूथे फूला की पक्तियाँ
— प्रकृति प्रणयिनी है ।
बूद-बूँद रिसते इस जीवन का बाधे मत्यु-अजलि म
भय के वनान्तर म उदासीन
शान्त देव प्रतिमा है ।

मेरे सम्मोहित विमुग्ध जलद-अन्तस पर खिची हुई
प्रकृति एक विद्युत् की लीक है ।
ठहरो कुछ पहले अपने को उससे सुलझा लूँ
तब कहूँ — प्रकृति रमणीक है ।

# उष्ण-स्रोत

हिम-जलद, हिम शृंग
हिम-छवि,
हिम दिवस, हिम रात,

हिम-पुलिन, हिम-पथ,
हिम-तरु,
हिम क्षितिज, हिम-पात ।

आँख ने
हिम-रूप को
जी भर सहा है ।
सच यही हिम है
मगर मन में अभी तक
स्पन्दना का
उष्ण-जलवाही विभामय स्रोत
अविरल बह रहा है ।

## हिम नही यह

हिम नही यह –
इन मनस्वी पत्थरा पर
निष्कलुप हो
जम गया सौन्दय।

यह हिमानी भी नही –
गात घाटो म
पिघल कर वह रही
अविराम पावनता।

और यह सरिता कि जमे
स्नेह का उद्दाम कोमल पाश
अनगिनत प्रतिबिम्ब रच कर
बाधती हो भमि से आकाश।

## हिम-स्पर्श

प्रथम बार
मेरे – हिम के –
अस्तित्व में स्पर्श हुआ,
मुझे लगा
मैंने नहीं, हिम ने ही मुझे छुआ।

सीमाहीन रूप की
आभा के ज्वार में
फिरता है चेतन मन यहाँ-वहाँ,

शीतल हिम छाँह म
एक बार फिर मनु के भीगे नयन,
वाणी ने कुछ न कहा।
खिची प्रत्यचा रोमाच की
राम रोम म नपूत तार-सा
पख खोल उडने को आतुर,
तैर निराकार –
लक्षित अलक्ष्य-सा
अन्तिम आखेटक के वाण से विधे
घायल हिरने की तडपन को येलता –
अचल म भी मौन रहा।
रह रह कर छूटे – सख्यातीत ज्योति शरय
मुझम कहो फूटा एक अप्रतिहत उष्ण-स्रोत,

पिघल गया,
वाहर का सारा हिम
भीतर के ताप स
पता नही मन ने जडता को त्यागा, या गहा।
कुछ क्षण वाद मुझे भान हुआ –
मैंने हिम ने दोना ने दोना को –
विवश एक साथ छुआ।



## विद्ध चित्र

हिम गलें क्या
गलें मेरे शब्द
जो उसकी अछूती स्वतिमा को
बाधने म निष्फल जाते हैं।

हिम बहे क्या
बहे मेरे अश्रु
जो उसकी अचीन्ही भगिमाएँ
दखने को निकल आते हैं।

हिम गले क्या
हिम बहे क्या
गलें मैं ही
बहूँ मैं ही।
दिया जिसने वध
उसका 'विद्ध' वनचर
कुछ समय तो
रहूँ मैं ही।

## हिम विद्ध

दखा नहा क्षीर सिन्धु
या ही बस – शिखरा क शीग पर जमा हुइ
उसकी विस्फारित तरगा का
मन्थर निहारा है ।

हुए अभिभूत ?
हम ये ही कहा हात जा
कुछ क्षण का हमस हमारा अस्तित्व
तुहिन शृगा ने छीन लिया ।
फिर कब लाटाया हम नात नही ।
लगता है –
उन्ही मौन मुद्रित क्षणा का
प्रत्यक्ष अविकल्प अन्न
कई-कई जन्मा का स्पन्दातात —
सचित गहराइ स गहरा था ।

वह केवल अपना ही नहीं
अब हमारे भी होने का साक्षी है।

नीचे से ऊँचे का देखा
हम नमित हुए,
सुषमा के भार से –
चुक गया हमारा उन्नत दशन।
हुए उद्ग्रीव,
किन्तु पतली निर्झरिणी भी
नाप नहीं पाये एक दृष्टि म
अभ्रकश हिमाक्षिप्त शिखरा क रूप का
बाँधें भी तो कैस –
टक-टूक शब्दा की डार म।

जीवन का वेग मत्यु-वाछा बन वहा,
हमन अनुमान लिया –
भारतजयी हाकर भी आय क्या धमराज
गलने हिमवान् म।
श्वासा का अन्त किसी ठिठुरन म हागा ही
इतनी शान्त, शुभ्र, स्निग्ध जडता का रूपारूप पारावार
पायेंग कहाँ पुन
आयग भी ता यह दीठ नहीं हागी पहले-जसी
अनास्वाद,
अनाविद्ध।

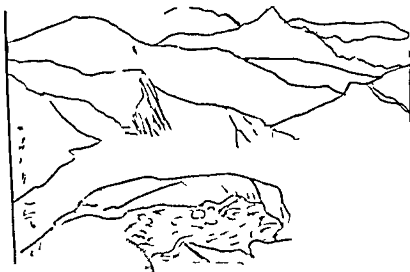
## पुन सृष्टि

तूली की नाक की तरह
तीखी दृष्टि विवश
फिरती रही, फिरती रही
शिखरा को
जल्दो को
अपने और उनक बीच आते
देवतरुआ का
घेरती सवारती।

मन ने ज्या
विधि क वनाय

सब रूपा-आकारों को
फिर से रचा,
जो कुछ भी शेष बचा
साहस बटोर कर
अपने में सोये हुए सृष्टा का
खुली बाँह छू कर जगाया
कहा – द्रष्टा बनो !
देखो –
यह शिखर-जलद-देवदारु में पूरित
दिशाकाश
जो भी है, सब कुछ तुम्हारी ही सृष्टि है।
पृथ्वी-आकाश लो, अनिल-जल लो तेज लो,
जैसे सहेज मिले इसको सहेज लो।

# बादलो के वलय



## बादल की सीप

जाने कब
बादल की सीप ने
नभ के उस अँधियारे कोने तक
मोती-सी चाँदनी उलीच दी,

सारे हिम शृंगों को बार-बार
रेशम की आभा में धुल चली।



## हिम शिखरों पर वादल

शिखरा पर तिरे
स्याह बादल की परछाई —
चादी के मजे हुए थाल म
पूजा का दीपक रख
आंखा म काजल सा पार गयो ।

## स्याह बादल  जगमगाती धूप

गिरि शिखर से तलहटी तक
चीड़-वन को घेर
उतर आया यह शिथिल बादल
धुमैला स्याह
हुआ मन के सामने प्रत्यक्ष मेरा दोष ।

परस कर उस छोर तक
फैली हुई हिम राशि
फूल की थाली सदृश —
यह जगमगाती धूप
खुला मेरे पुण्य का संचित अपरिमित कोष ।

जिस जगह जी चाहता है
देख लेता हूँ ठहर कर
स्याह बादल
जगमगाती धूप
ज़िन्दगी के इस अजाने मोड़ पर मेरा यही सन्तोष ।

## धूप की चादर

बादला क
बद थुल्म
ओढने क बाद भी
अभी तक
इस शिखर का ठिठुरन
नहा छूटती तनिक भी,
और
यह म हू
कि हलकी धूप की चादर
बदन पर डाल कर
देह स ही नही
मन स भी पसीज
गुधा चुका हूँ।

## बादल एक शब्द चित्र

सांझ के सुदूर लिप आकाश में
सरक आया क्षुधित बादल-व्याल
लपलपाती दीर्घ विद्युत्-जीभ जिसकी —
तुहिन शिखरों पर विसुध सोयी हुई
स्वप्न डूबी हर किरन को
चाट जाना चाहती है।

## वादल-भवरे

खिन्न देख
शिखरा क इन्दीवर
परिचित कोमलता का भ्रम ल कर
वादल भवर आत
हिम की चटटाना स
वार-वार टकरा कर
मन मारे उड जात
नीली गहराई म
निमल आकाश की।

## ज्योति की मछलियाँ

बादलों की झील के ऊपर —
खिला शिखरों का कमल-वन।
भोर ने भर मूठ कुंकुम किरन-चमर
इस तरह फेंकी —
बनों के गहन पुरइन-पात सारे
रँग उठे।
ज्योति की बहुरंग, झिलमिल मछलियाँ
झील के तल्हीन बादल-नीर में
बहुत गहरे, बहुत गहरे, तिर गया।



ढाकुरी के मोर



## बात, रात से

आँख-सी उजली धुली यह रात
हिम शिखर पर
रश्मियों के पाँव रख कर
बढ़ चली,

कहा मैंने —
रुको !
मैं भी साथ चलता हूँ,
गगन की उस शान्त नीली झील के
निस्तब्ध तट पर
बैठ कर बातें करेंगे।

## पख कोर

दृष्टि-पथ म –
छू गयी हिम गिखर रेखा स
देवतरु के झूमते छननार छोरा-सी
किसी उडते जल विहग की
पख-कोर ।

दश्य के परिप्रेक्ष्य म
एसा लगा मुझको
कि जस हिम शिखर से
छू गया मैं ही ।

सिहरना के तार म
ऐसा पिरोया राम रोम
तात सी बज उठी
सारी चेतना ।

## शिखर स्पर्श

गिमर-गक्ति छत-स
किसी स्नेन वाल्ट पर
                कांपते मयूर सी
सिहरन वह
मेरे राम   पना म भर गयी।

'आइस   ब्रिज   पर सहसा
मेरे ही सुन शीत   निजटित पग
क्षण भर का
उस मयूर के स्पन्दित ननन मे
                पूर गये।

मुझ लगा –
मैंने भी अभी अभी
यही किसी वाल्ट पर पन गाड़
                निगरा का छुआ।

## शिखर हथेलियों पर

दिन भर की थकन से
मुरझाये सूरज की
राशि राशि आभा को
रोक लिया
शिखर-हथेलियों पर
तिमिर-लीन
नीलम गिरिमाल ने।

कितने क्षण बीते अभी
झिलमिल झलकती
उन ऊँची हिम कोरों तक
गोरी उँगलियों में —
पोर-पोर,
मेंहदी-सी रच गयी।

## छवि-तरी डूबी

सूय डूबा नहीं,
डूबी नहीं किरन,
निसर डूबे
तिमिर के उस नाल पारावार म ।

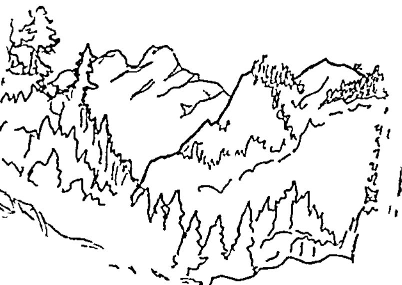
भृग-छवि की, ज्यार विह्वल
श्वेत पतली तरी पर तिरता हुआ
नि सग मैं भी ता वही —
डूबा यहा मँझधार म ।

## ढाकुरी के भोर

बादलों की ओट से
छन कर गिरी जो
बीच गंगा में
यह नहीं वह रश्मि
जो हिम पर पड़ी थी
ढाकुरी के भोर

पत्तियों को बेध कर
दीवार पर छप-सी गयी जो
नहीं यह भी नहीं है वह रश्मि
जो मन में गड़ी थी
ढाकुरी के भोर।

# वन-स्पन्दन



उस विशाल उपत्यका का चीर कर
तडफडाहट भरे स्वर म
'पी कहा, पी कहाँ
टेरता फिरता रहा —
पागल पपीहा।

सोचता हूँ —
थी बनी किस घात की,
हर रटन के बाद
तीखी और होती गयी जीहा।

घन घिरे व शिखर
'सुन्दरनाग' के
माँग की हिम धूप म
चलके झलक कर खा गय।
फिर हुआ स्वर 'पी कहाँ

बादला के वज्र-गजन नाद से सहमी हुई
नाक सप कम्पित सघन की पत्तिया स
टूटे यथा-बूद,

फिर हुआ वही स्वर 'पी कहाँ'।

प्रखर गोल पगनाल गिद्ध-सा
पवन पवन था एक धागा
देह पर
गीत के पंजे चुभा कर उड़ गया।
फिर हुआ स्वर 'पी कहाँ'

डाकबंगले की अंगीठी देर तक
अनमवारी माँग में सिन्दूर भरती रही,
ओढ़ कर फिर राख की चादर
अचानक बुझ गयी,
किन्तु वह आहत करुण स्वर बावला,
कौन जाने और कब तक दर्द से जलता रहा।

## सहनशीला नदी

उस किनारे से अचानक
चीड़-वन को थरथराता हुआ —
भारी एक पत्थर गिरा
क्षुब्ध लहरों ने तड़पकर
हर दिशा को सूचना दी,
प्रतिध्वनि के सिवा
कोई कहीं से आया नहीं।

रश्मियों की सलाई पर चढ़ा —
ऊनी इन्द्रधनु बुनती, अधूरा छोड़
विवश आने को हुईं कुछ उर्मियाँ
किन्तु जल की सहज गति में
एक गहरी शान्ति के अतिरिक्त
मिला कुछ भी तो नहीं उनको।
सह गयी वह नन्हीं छाती
चोट इतनी बड़ी आखिर सह गयी।

रश्मियों के हाथ में लेकर सलाई फिर वही।
गुँथ ऊनी इन्द्रधनुओं की बुनाई फिर वही।



हिम बिन्दु
१

## नदी का आवेग

पवता के बीच बहती
नदी का आवेग
जस –
    अश्रु बन कर निखरने से पूव
    हड्डिया को ठनठनाता हुआ कोई दद
    रिक्त मन की घाटिया को चीर जाये।

## पाँगर ग ध विथोरती

भर भर अँजुरी
पांगर-ग घ गिथारती

पवत की कामल बयार भी
अपनी ग धमान्नी गनि स
एक साथ ही
दह प्रान थकयोरती।

भँवरा की गुजार टार कर
निथुरी सारभ कणिराना स
गुपचुप मधु रस चारती।

भर भर अँजुरी



## उस हिमानी देश में भी

दमकती हीरक कनी-सी
उन अदग्री शिखर-तारा की चमक
थके पग की दुखन सहला गयी।

राह पथरीली
वनों के बीच छिपती-झाँकती
सिहरते हर एक रोए को
उस हिमानी देश में भी
स्वेद से नहला गयी।

टेर, पवत पन्थ की

सिखर-बन्ध पर
जनेऊ की तरह चलता हुआ
बसा पाँगर-गाँव म
गाया — गुच्छ-अजलि स गिरी
मिन जरण भाली पगुरिया बीच,
घिरा, उलझा
गझिन पाटल-वल्लरी व
भूमिगामी मुज-पाशा म
चोड-वन का
पीत-गन्धि सूचिया स बिंघा
विन्मना क्षण भर
दवतरुआ का घनी आशीष-छाया तल
दवतर व —
रश्मिया म बस हरित वितान-जस ।

फिर उठा कर हाथ लता कभी अँगडाइ
मान-मानिल अलस आँगा म
निगरा की आग सुलगा - झाँकता,
फर कर आदम दिशा पर
प्राण म कपता सिहरना

हिम बिंदु

आज भी मेरे थक-हारे पदा क पास आकर
स्नेह गील परस स सब श्रम मिटाकर
टक कर माथा
बडी मनुहार करता कह रहा है —
उठो ! आओ चलो मेरे साथ,
दूर — घाटी पार स —
सुना ! अब भी टुनकती ह घण्टियाँ
भारवाही बकरिया के कण्ठ की
गात गात –
वल पर लाद हुए घर बार
उन कलाशगामी यात्रिया की
सुधि दिलाती
चीरती-सी काल का व्यवधान—
फिर फिर टुनक जाती
सुना ! सुनत क्या नही !"

## घाटी की चिन्ता

सरिता-जल में
पैर डाल कर
आँखें मूँदे, शीश झुकाये,
सोच रही है कब से
बादल ओढ़े घाटी।

कितने तीखे अनुतापों को
आघातों को
सहते-सहते
जाने कैसे असह दर्द के बाद
बन गया होगी पत्थर
इस रसमय धरती की माटी।

## स्तम्भ कथा

नन्दा देवी के क्रीडा प्रासादों की
रचना करने को स्वयं विश्वकर्मा ने
खम्भे ही खम्भे जगह-जगह रच डाले
सृजन सकल्पों में जाने अनजाने।

उनकी नभ भेदी गर्वित ऊँचाई को
जब विधि से देखा नहीं गया ईर्ष्यावश
निज मन्त्रशक्ति से उसने उन स्तम्भों को
परिणत कर डाला तरुओं में अभ्रकश।

निरवमित विश्वकर्मा के कर से छैनी
जा गिरी छूट कर जल की गहराई में
लहरों में ऐसी सृजनशीलता जागी
रच गये वहाँ भी खम्भे परछाई में।

बोला वह आकुल कण्ठ – 'अरे चतुरानन
मेरी रचना तू मिटा नहीं पायगा।
यह घने चाड-वन और देवतरु-कानन
जो भी देखेगा स्तम्भित रह जायगा।

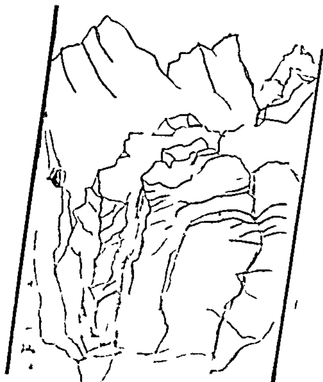
तरु शिखाए,
भूमि की आकाक्षाए
        वेधती आकाश

चीड सिहरन
दवतरु रोमाच
पुलकना स बनी सारी पत्तियाँ,

स्पन्दनो का गहनतम इतिहास –
परिणत हो गया जम वनो म,
किन्तु धरती के हृदय की बात पूरी –
बँध यहाँ पायी त्वचा के कम्पनों म ।

■

स्मरण-जल



## हिम शिखर मन में

गीत की नाव म
बर्फ के टुकड़े
पिघलते हैं
गलते हैं
और –
वहीं निराधार तरनी वह
तैरती है
अपने ही जल म।

## टेरते हैं शिखर

टेरते हैं शिखर
रह रह याद जाती है —
रुपहली कोर
मन के शान्त निमल, गहन जल म।

टेरते हैं शिखर
रह रह टीस जाती है —
वना की याद
छनती रश्मिया के भूमि शायी ज्योति-छल म।

टेरते ह शिखर
रह रह तर जाती है —
जलद छाया
मावलो अलि पक्ति-सी उजल कमल म।

## कल्पना का अन्तराल

वस्तु को सुन्दर बनाती है
– भावमय दूरी,
चाहे वह
देश की हो
काल की हो
अथवा हो
कल्पना की
स्पन्दन भाव की

दूरी यह –
रा रच दती है
नयी-नयी छवियाँ
अन्तरग दृष्टि के
सारे अन्तराल म ।

होगा
कठोर और कौन सत्य
हिम से पाषाण से ।

होगी
रमणीक और कौन छवि
इन सुदूर शिखरो की
रगारग आभा से
– आभा के रजित आह्वान से ।

## शिखरों से दूर हूँ

इसमें, उसमें –
अनगिन धंधों में, उलझा हूँ,
शिखरों से दूर हूँ।

पाऊँ जो पंख
अभी हिम-जल से अभिमन्त्रित
घाटी में तिर जाऊँ,
लेकिन मजबूर हूँ।

देखना था निर्निमेष भावों में जिन्हें
उन्हें सपना-सा मन-ही-मन
अनुदिन अभावों में देखता हूँ,
मैं कितना क्रूर हूँ।

■

## उम्र का माथा

लौट आया हूँ
थके हारे अहेरी-सा
गहन वन में भटक कर,
सुनहली हिरनों-सदृश हर वार
तन-पलक से
मुझ छलती रही – चढ़ती धप।

गहन वन से
लौट आया हूँ,
उस मनोहारी थकन से
मुक्ति भी कुछ पा चुका हूँ,
किन्तु मेरी उम्र का माथा –
दीपते प्रत्येक हिम छादित शिखर की
छाह में बहती
प्रखर सोतस्विनी के
वीचि सिंचित
इन्द्रधनुषी कूल पर
– अब भी टिका है।

# भूल क्यों बैठे बटोही

छंद में आबद्ध कविता-पंक्ति-सी
भोज-तरुओं पर कसी
रस-गर्विता बेसुध लताएं
सरसराते पवन के आवेग पर
किसी जालीदार श्वेत दुकूल-सी उड़ती हुई
निर्झरिणियों से भरी — वे घाटियाँ
और उनमें झांकती हिम-शृंखलाएं
भूल क्यों बैठे बटोही!
क्या तुम्हारे स्वप्न-जल में झलमलाते
उन हिमानी स्वर्ण शिखरों पर —
शान्त संध्या-कुंतलों-से
ताम्र-जलद झुके नहीं ?
क्या तुम्हारी चित्र रचना में अभी तक
स्नेह अर्जित रूप-रेखी
भोजपत्र चुके नहीं ?
अरे! पर्वत प्रान्त से आती हुई
इस सुपरिचित प्राण-वेधी टेर का
और तुम कब तक उपेक्षित कर सकोगे ?
क्या यहीं कुछ और अब भी शेष है जिसमें
रिक्तता अपने हृदय की भर सकोगे ?

## व्यर्थ शब्द जाल

ला म ता भार स ही श-दा का जाल डाल
ममाहत निरा मौन बठा हूँ
स्मरण-दीप्त विष्णु प्रयाग की शिलाओ के
चिकने सोपान पर ।

मुझ तक न आना
नहीं स्वच्छ विष्णुगगा क
उच्छल तरग-गुच्छ
छीप छीप जायगे
बेबस तुम्हारे भी दह प्राण ।

जिसने आरोहा अवरोहा पर
गिरना के वचन-दुकूल सा
बार बार बहने का
आतुर मन
उस फेनिल क्षिप्र अलकनन्दा की
धाराहत प्रखर धार
जाने कब से उलझी
जल के कम्पित तल की —
गीतिमयी स्वरलिपि म ।

मेरा शब्द-जाल व्यथ,
कोई भी मछली
उस छवि-दोलित उज्ज्वल जल रूप की
छली नहीं जा सकी,

हाथ लगी
केवल कुछ छींटें ही
जिनकी शीतलता मे भीग कर
रोम रोम अब भी है —
कण्टकित ।

## शिखर मेरे

जागता हू ता —
कही छुप कर मुझो म
शिखर मेरे जागते हैं

और सोता हू अगर —
तो कही मेरे बीच अन्तर्लीन हो
सोना मुभी म चाहते हैं ।

नही कोई नही है
जिससे कहू मै
मम की यह बात ।
घाटिया वे दूर ह
देखा जहा से इह

पहली बार
ज्योत्स्ना-स्नात
आधी रात ।

## स्मरण जल

मुझे आँखों देखता हूँ
वे शिखर दूरस्थ
घुलने जा रहे हैं
स्मरण जल में।

बादलों के संग में
नम हो गये थे
रंग जो आकाश के
और घुलने जा रहे हैं
स्मरण-जल में।

पास मेरे कहाँ ऐसी तूलिका
उनको सँवारे,
कहाँ ऐसी दृष्टि

जो अधूरे चित्र में भी
रूप को पूरा निहारूँ।
किन्तु
आहत शिखर के
इस छोर से उस छोर तक
दोहरी लपकती
बिजलियों की तरह
मेरे बन्ध
घुलते जा रहे हैं
स्मरण जल में।

# मै वह क्यो नही हुआ



## वज्र संकल्प

कहाँ है वह हाथ
मुझसे माँगने को
— दान
मस्तक थाल में
जो बढ़ा मेरी ओर,
कहाँ से आयी अभी
यह मर्म की आवाज़
जिसने दिया
मेरी चेतना को जैसा का झकझोर,

चाहते हो स्वर्ण
— यह लो।
चाहते हो रक्त
— वह भी दे रहा हूँ
किन्तु पहले तनिक उसको
चख सह लो
और यदि हो उँगलियों में शक्ति
फिर भी नाप
तो लो दे रहा हूँ
यह धधकता हुआ दृढ़ संकल्प
अपनी आस्था का अस्थिमय अस्तित्व
रख गया तो रहा इसका वज्र पातर मूर।
धर गया तो धरा सामने असुर का गर्व
— चकनाचूर।

## स्वाभिमान

देश मेरे !
ज्योतिमय तेरे तुषार किरीट पर
कुछ मकोड़े रेंग आये —
समझ कर तुझको निरा म्रियमाण ।

झिटक दे सिर
तनिक दायीं ओर बायीं ओर
बिलबिलाकर कीट
धरती पर गिरें उत्तान ।

जान ले यह
निकलने से पूर्व उनके प्राण
काल से भी अधिक होता है भयावह
किसी आहत स्वाभिमानी देश का
जागा हुआ अभिमान ।

गये महाभारत के बाद
शान्ति पाने का
जहाँ —
गहन चिंताकुल धर्मराज
आज वही
उसी शुभ्र, हिम पावन,
जल्दोन्नत भूमि पर
नये महाभारत का सूत्रपात।
अब इससे ऊँची
इससे पावन
कौन भूमि होगी जहाँ
युद्ध - जयी होने के बाद
पुनः पाने को शान्ति - लाभ
जायेंगे
आगत युग के चिन्तित धर्मराज ?

## मैं वह क्यो नही हुआ

मैं वह क्या नहा हुआ
जिसने
हिम गिरा की ग्भा म
पहला आघात सहा ।

मैं वह क्या नहीं हुआ
जिसके घायल तन स
चौडी चट्टाना पर
प्रथम बार
किसी गम मात सा –
रक्त बहा ।

म वह क्या नहा हुआ ।

